अहिंसा

स्वर्गीय विदुषी चम्पावती जैन

लेखक—

पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री

"श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला" का पुष्प नं ४

॥ वन्दे जिनवरम् ॥

लेखक—

पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री.

धर्माध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय,
बनारस (काशी)

प्रकाशक—

अजितकुमार जैन शास्त्री,

मन्त्री प्रकाशन विभाग

" श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला "
अम्बाला छावनी।

द्वितीय वार
१०००

वीर सं० २४६१

मूल्य
डेढ़ आना

धन्यवाद

श्रीमान सेठ गोरधन जी कोगालाल जी हैदराबाद ने इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ २०) प्रदान किये हैं एतदर्थ आप को धन्यवाद है।

मंत्री—
प्रकाशन विभाग

प्रथमावृत्ति के दो शब्द

हमारे मित्र पं० राजेन्द्रकुमार जी ने हमसे अनुरोध किया "कि तुम 'चम्पावती जैन ट्रेक्ट सोसाइटी' के लिये 'अहिंसा' पर एक ट्रेक्ट लिख कर दो"। किन्तु उन दिनों विद्यालय की परीक्षा निकट होने से मैं ने उनसे क्षमा मांगली और मैं छुट्टी पाकर निश्चिन्त होगया, किन्तु ग्रीष्मावकाश में घर आने पर पुनः उनका पत्र मिला कि "तीन ट्रेक्ट छुट्टियों में लिख कर दो"। मैं बहुत चकराया—मेरे पास यहां पर कोई सामग्री नहीं थी, फिर भी हिम्मत करके अपने मित्र का अनुरोध पालन किया और बहिन स्वर्गीया चम्पावती की स्मृति में यह माला गूंथ डाली ग्रीष्माव-काश का समय होने से इस मेरे घर के ऊजड़ बगीचे में यथेष्ट सुमनों के न होने से तथा कुछ माली की अज्ञानता से माला में बहुत से पुष्प पिरोने शेष रह गये तथा जो पिरोये गये हैं वे भी असम्बद्ध तथा असम्पूर्ण हैं। फिर भी अहिंसक तथा प्रेमी हृदय की यह पुष्पाञ्जलि मेरी स्वर्गीय बहिन तथा हिंसा से त्रस्त मानव संसार की आत्माओं को अवश्य शान्ति प्रदान करेगी—ऐसी आशा है।

अन्त में हम अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय के भी आभारी हैं जिनकी "जैन वीरों के इतिहास" नामक पुस्तक से हमने कुछ उद्धरण उतारने की धृष्टता की है।

नहटौर
ज्येष्ठ शुक्ला २
सं० १९८७

—लेखक

अहिंसामें कायरताके लिये स्थान है ही नहीं अहिंसाका तो पहिला पाठ ही निर्भयता है। सहिष्णुता क्षमा धैर्य ये अहिंसा के अंश हैं। निर्भयता और कायरता का निवास एक ही स्थान में असम्भव है। शस्त्रसंचालन-कौशल को अथवा हिंसा को शौर्य समझना भूल है। उसी प्रकार केवल अत्याचार सहन करने का नाम भी अहिंसा नहीं हो सकता। शौर्य एक आत्मिक गुण है—आत्मा का धर्म है, या यों कहें कि आत्मिक तेज और सामर्थ्य के प्रकाशन का नाम ही शौर्य है। यह दो तरह से प्रगट किया जाता है —आत्मा के द्वारा और शरीर के द्वारा। जब वह आत्मा के द्वारा प्रगट होता है तब वह अहिंसा कहलाता है और जब शरीर के द्वारा प्रगट होता है तब वीरता। वीरता का प्रयोग जब किसी को दुःख या हानि पहुंचाने के लिये किया जाता है तब वह वीरता नहीं रहती। तब ही उसका नाम हिंसा हो जाता है। जब शारीरिक मोह अथवा स्वार्थ के लिये हिंसा की जाती है तब इसका नाम होता है दुष्टता अथवा कायरता। मोह और स्वार्थ अज्ञान के पुत्र हैं अतएव अज्ञानी मनुष्य ही दुष्ट और कायर होते हैं। कायरता से तो हिंसा भली। क्योंकि हिंसा क्या ?—विकृत वीरता वह तो कायरता से हजार गुनी अच्छी है। उसमें देह का मोह और स्वार्थ इतना नहीं। हिंसा श्रेष्ठ कभी नहीं कही जासकती उसमें भलाई इतनी ही है कि वह कायरता से कुछ उच्चबुराई है"।

—महात्मा गांधी

अहिंसा

धर्म और राजनीति मानव जीवन के मुख्य अङ्ग हैं। इनके बिना मनुष्य का इहलौकिक तथा पारलौकिक ध्येय पूर्ण नहीं हो सकता। संसार के विगत इतिहास के देखने से पता चलता है कि धर्म और राजनीति में सर्वदा प्रतिद्वंदिता रही है। धर्म की दृष्टि में जो कर्तव्य है वही राजनीति की दृष्टि में अकर्तव्य होजाता है—राजनीति की दृष्टि मे जो विधेय है वही धर्म की दृष्टि में हेय गिना जाता है। राजनीति "शठे शाठ्यं समाचरेत्" का उपदेश देती है तो धर्म "जो तोको कांटा बुवे ताहि बोइ तू फूल" का उपदेश करता है। आज हम अपने पाठकों के सन्मुख ऐसे विषय को रखते हैं जो धर्म और राजनीति दोनों ही की दृष्टिमें उपादेय है और जिसे आजकल भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में सर्वोच्च पद दिया जारहा है।

"अहिंसा परमोधर्मः" इस सत्य को प्रायः प्रत्येक भारतीय धर्म-संस्थापक ने अपनाया है। इसका कारण अहिंसा धर्म की 'संसार को शान्ति का सन्देश देने वाली' शक्ति है और शान्ति ही सुख है जिसके लिये संसार व्याकुल हो रहा है। हमारे सामने दो जगत हैं—एक वाह्य दूसरा आन्तर। प्रत्येक प्राणी आन्तर जगत—आत्मा—के साथ ही साथ वाह्य जगत में भी

शान्ति चाहता है। दूसरों का दिल दुखाना, प्राण हरण करना, सर्वस्व लूट लेना, तरह तरह के उपायों से अपने आश्रितों को सताना, आदि कार्यों से संसार में अराजकता और अशान्ति का साम्राज्य हो जाता है। मारने वाला, मरने वाला, तथा उनके सहायक, सब ही के हृदय में अशान्ति की ज्वाला जड़ जमा लेती है। यह ही तामसिक कार्य जब व्यक्तिगत क्षेत्रसे सामाजिक क्षेत्रमें अपना पैर जमा लेते हैं तब समाज सागरमें अत्याचारोंका ज्वारभाटा आजाताहै जिसमें उसका सर्वस्व स्वाहा होजाता है। इसी सर्वनाश से संसारकी रक्षा करने के लिये जैन तीर्थङ्करों ने अहिंसाको धर्म का मुख्य तत्त्व माना और उसे अपने जीवन में संघटित कर संसार को शांति का मार्ग बतलाया।

"अहिंसा" की परिभाषा

हिंसा के त्यागने को अहिंसा कहते हैं अर्थात् हिंसा का विरोधी धर्म अहिंसा है। अतः प्रथम हिंसा के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। व्यवहारमें किसीकी जान ले लेनेको ही हिंसा कहते हैं। यदि कोई प्राणी दूसरे प्राणी को जानसे मार डालता है या स्वयं आत्म-हत्या कर लेता है तो वह हिंसक कहा जाता है, किंतु यथार्थ में—

> सा हिंसा व्यपरोप्यंते यत् त्रसस्थावराङ्गिनाम्।
> प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्य-भाव-स्वभावकाः॥
>
> —अनगारधर्मामृत

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ के आधीन होकर या अयत्नाचार के मद में मन, वचन, काय से त्रस जीवों के- मनुष्य,

पशु, पक्षी आदि स्थूल जन्तुओं के— या स्थावर जीवों के—हवा, पानी, फल आदि में रहने वाले सूक्ष्म जन्तुओं के—द्रव्यप्राण या भावप्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं।

सिर्फ किसी की जान ले लेना ही हिंसा नहीं है— उसमें किसी को मानसिक या शारीरिक दुख देने का भी समावेश किया जाता है। इसी लिये जो मनुष्य अपने मन में दूसरों को मारने या दुःख देने का विचार करता है, मुख से अपशब्द कहकर दूसरों का दिल दुखाता है या हस्त आदि से दूसरों पर वार करता है वह हिंसक कहा जाता है। आध्यात्मिक या आन्तरिक अहिंसा का विरोधी धर्म भाव-हिंसा है और बाह्य अहिंसा का विरोधी धर्म द्रव्य-हिंसा। जब हम किसी प्राणी को दुःख देने का विचार करते हैं तभी से भाव-हिंसा प्रारम्भ हो जाती है, क्योंकि उसी समय से हमारे विचारों में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है जो हर समय हमारे हृदय को उथल पुथल किया करती है और जिससे हमारी सुख शान्ति नष्ट हो जाती है। यही शान्ति की शत्रु— हिंसा की प्रथम सीढ़ी है। इसी का दूसरा नाम संरम्भ है।

इसके बाद हम अपने दुर्विचारों के अनुकूल उस प्राणी को कष्ट पहुंचाने के साधन जुटाने लगते हैं। जो लोग उसके दुश्मन होते हैं उन्हें हम अपना मित्र बनाते हैं और उनसे इस कार्य में सहायता लेते हैं— तरह २ के प्रपञ्च रचते हैं, इसी का दूसरा नाम समारम्भ है। यह भी केवल भाव-हिन्सा में ही गर्भित है,

क्योंकि अभीतक उस प्राणीको सतानेके साधन ही जुटाये जारहे हैं

साधनों के मिल जाने पर जब हम उसको सताना प्रारम्भ कर देते हैं या एक ही बार में उसका काम तमाम कर देते हैं तब उसे आरम्भ कहते हैं। हिंसा की इस तीसरी कोटि में भाव हिंसा तथा द्रव्य हिंसा दोनों सम्मिलित हैं। संरम्भ तथा समारम्भ दशा में हिंसक अपनी ही शान्ति को नष्ट करता है और दुःखी रहता है, इस लिये यह दोनों दशा हिंसा में शामिल की जाती हैं क्योंकि दूसरों की तरह अपने को दुःखी करना भी हिंसा है। तीसरी कोटी में हिंसक प्राणी अपने को दुःखी करने के साथ ही साथ दूसरों पर वार करना प्रारम्भ कर देता है। यदि उसने दूसरों को मानसिक दुःख ही पहुँचाया तो तीसरी कोटि में केवल भाव-हिंसा ही होगी और यदि मानसिक कष्ट के साथ शारीरिक कष्ट भी दिया अर्थात् उसकी जान लेली या उसका हाथ पैर काट दिया या आँख आदि फोड़ दी तो तीसरी कोटि में दोनों हिंसामें वर्तमान रहती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रव्य-हिंसा होने के बहुत समय पहिले ही भाव हिन्सा प्रारम्भ होजाती है, जिसका अनुभव एक विचारशील व्यक्ति को अपने हिंसक भावों पर ध्यान देने से भली भाँति हो सकता है।

हिंसा के इन तीन विभागों के अतिरिक्त अन्य तीन बिभाग भी हैं जिन को कृत—स्वयं करना, कारित—दूसरों से करवाना, अनुमत— किसी को करता हुवा देखकर प्रसन्नता जतलाना, कहते हैं। अर्थात् किसी प्राणी का वध स्वयं करो,

दूसरे से करवाओ या किसी को करता हुआ देखकर खुशी मनाओ तीनों में ही हिंसा का पाप है। पिनलकोड के अनुसार भी केवल मारने वाले को ही दण्ड नहीं मिलता है, किन्तु उस के कार्य में जो लोग सहायक होते हैं वे सब भी दण्ड के भागी समझे जाते हैं। इस प्रकार सच्चे अहिंसक को मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना और संरम्भ समारम्भ आरम्भ इन नौ प्रकारोंसे किसी प्राणी को दुःख देने में सम्मिलित नहीं होना चाहिये।

हिंसा के उपरोक्तलक्षण "प्रमत्तयोगतः" एक पद है जिस का अर्थ है "कषाय से" या "अयत्नाचार से"। इस पद से दो बातों का पता चलता है कि प्रथम—हिंसा दो प्रकार से होती है— (१) कषाय से यानी जानबूझ कर (२) अयत्नाचार से। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्यपर क्रोध, मान, माया या लोभ के वश होकर जानकर वार करता है तब वह कषाय से हिंसा कही जाती है और तब मनुष्य की असावधानतासे किसी का वध हो जाता है जब वह अयत्नाचार से हिंसा कहीजाती है। दूसरे यदि कोई मनुष्य देख भालकर कार्य्य कर रहा है तथा उस समय उसके हृदय में कोई कषाय भी नहीं है और अचानक उस के द्वारा किसी का वध हो गया तो ऐसी दशा में वह हिंसक नहीं कहा जा सकता। इससे मालूम होता है कि जो मनुष्य जीवों की हिंसा करने के भाव नहीं रखता और उन को बचाने के भाव रखता है उस के द्वारा जो द्रव्य हिंसा होजाती है उसका पाप उसे नहीं लगता है। इसी बात को शास्त्रकारों ने स्पष्ट करने के लिए लिखा है—

उच्चालदम्मि पादे इरिया समिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिङ्गो मरेज्ज तं जोग मासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णमित्तो बंधो सुहुमो विदेसिदो समय।

अर्थात्— जो मनुष्य देख देख के मार्ग में चल रहा है उसके पैर उठाने पर यदि कोई जन्तु पैर के नीचे आजावे और दब कर मर जावे तो उस मनुष्य को उस जीव के मारने का थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता।

यदि कोई मनुष्य असावधानता से कार्य्य कर रहा है और उस के द्वारा किसी प्राणी की हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसा का भागी है—

मरदुव जीवदु जीवो अपदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

अर्थात्— जीव चाहे जिये या मरे, असावधानता से काम करने वालेको हिंसा का पाप अवश्य लगेगा, किन्तु जो यत्नाचार से कार्य कर रहा है उसे प्राणिबध होजाने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता है।

यहां पर प्रश्न होता है कि जब कोई मनुष्य असावधानी से कार्य कर रहा है, उसके जीवों की हिंसा करने के भाव भी नहीं है और इतने पर भी उसके द्वारा किसी प्राणी का बध नहीं हो रहा है फिर उसे हिंसक कैसे कह सकते हैं। हाँ— यदि उसके भाव किसी की हिंसा करने के होते या उसकी असावधानता से किसी को कष्ट पहुंचता है तो वह दोषी कहा जा सकता है। इसका उत्तर शहर-रक्षक क़ानून की ३४वीं दफ़ा

को देखने से स्वयं मिल जाता है। दफ़ा ३४ के अनुसार यदि कोई मनुष्य शहर या क़सबे की सड़कों पर इक्का, मोटर घोड़ा आदि सवारियों को तेज़ी के साथ दौड़ायेगा तो वह मुजरम समझा जायगा—उसके दौड़ाने से किसी को कोई हानि हो चाहे न हो। जिस प्रकार मनुष्य मात्र की हित कामना से मनुष्य के हितचिन्तकों ने मनुष्यराज्य में शान्ति-स्थापन के लिये कानून की व्यवस्था की, उसी प्रकार प्राणी मात्र के हितैषियों ने प्राणियों की हितकामना से प्राणीराज्य में शान्ति स्थापन के लिये नियम उप नियमों की व्यवस्था की। जो उल्लंघन करता है वह मानव-राज्य की तरह प्राणी राज्य में भी अपराधी समझा जाता है और उसे उसका दण्ड भोगना पड़ता है। जिस तरह घोड़े पर सवार मनुष्य को सड़क पर घोड़ा हांकते हुवे इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके घोड़े की टापसे किसी स्त्री पुरुष या बच्चे का क्षुद्र जीवन शून्य में न मिल जाय, क्योंकि उसकी तरह सब मनुष्य घोड़े पर सवार नहीं हैं और उसके घोड़े के सामने उनकी शारीरिक शक्ति बहुत कम है, उसी तरह मार्ग में चलते हुवे या अन्य सांसारिक कार्य करते हुवे हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे आचरण से किसी क्षुद्र मूक प्राणी का कोई अनिष्ट न हो जाये, क्योंकि हमारे बल के सामने उनका बल बहुत क्षीण है।

जैन धर्म के इस विवरण के अनुसार अपने द्वारा किसी जीव का वध होजाने से या दुखी हो जाने मात्र से ही तब तक

हिंसा नहीं होती जब तक अपने भाव उसे मारने या दुखी करने के न हों। तथा यदि अपने भाव किसी को मारने या दुखी करने के हैं और हम प्रयत्न करने पर भी उसका अनिष्ट नहीं कर सके तब भी वह हिंसा ही समझी जायगी।

क्योंकि—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥

प्रमादी मनुष्य (जो दूसरों को दुःख देना चाहता है या दूसरों की रक्षा का भाव नहीं रखता है) दूसरों का घात करने से पहिले (अपने दुर्विचारों के कारण) अपने द्वारा अपना ही घात करता है पीछे दूसरों का घात हो या न हो।

वास्तव में हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है । द्रव्यहिंसा को तो केवल इस लिये हिंसा कहा जाता है कि उसका भाव-हिंसा के साथ सम्बन्ध है, फिर भी द्रव्य-हिंसा के होने पर भाव हिंसा अनिवार्य नहीं है। यदि द्रव्यहिंसा और भावहिंसा को इस प्रकार अलग न किया जाये और द्रव्यहिंसा को ही हिंसा कहा जाये तो जैनधर्म के अनुसार कोई भी अहिंसक नहीं बन सकता और न फिर कोई मोक्ष ही प्राप्त कर सकता है। इसी को दर्शाते हुए पुरातन आचार्य कहते हैं—

जइ सुद्धस्स य वंधो होहिदिहि बहिरंगवत्थुजोएण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम वाउ-कायादि-वधहेदू ॥

अर्थात्—यदि शुद्ध परिणाम वाले जीव को भी केवल द्रव्यहिंसा के सम्बन्ध से पापका भागी माना जाये तो कोई

अहिन्सक बन ही नहीं सकता। पूर्ण अहिन्सा का पालन करने वाले योगियों के शरीर से भी सूक्ष्म वायुकायिक आदि जीवों का बध होता ही है।

हिन्सा और अहिन्सा के इसी विवेचन से रोगी को चङ्गा करने की इच्छासे उसके शरीरमें चीरा देने वाला डाक्टर हिन्सक नहीं कहा जा सकता—भले ही रोगी को असह्य वेदना हो और अस्त्र चिकित्सा के आघात से उसके प्राण पखेरू उड़ जायें। क्योंकि डाक्टर के भाव रोगी को नीरोग करने के हैं, न कि उसे सताने के। हाँ, जो डाक्टर फ़ीस के लोभ से ऐसा करते हैं वे अवश्य हिन्सक हैं। परन्तु यदि कोई प्राणी असह्य वेदना से छटपटा रहा है तथा उस समय उसके नीरोग होने की कोई आशा भी नहीं है, ऐसी दशा में किसी दयालु मनुष्य ने उसके दुःखसे दुखी होकर उसे विष देदिया और वह मर गया तो उस विष देने वाले को पाप अवश्य लगेगा। क्योंकि परलोक-वादियों के मत से जीव एक शरीर को त्यागने के बाद तुरन्त दूसरा शरीर धारण कर लेता है, जहाँ वह अपने पूर्व जन्म के किये हुवे कार्यों के फल को भोगता है। जब हिन्दू धर्म के अनुसार भी "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि" सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी कर्म फल भोगे बिना कर्मों का क्षय नहीं होता, तब यह निश्चित है कि प्रत्येक प्राणी अपने ही द्वारा किये हुवे कर्मों के शुभ वा अशुभ फलको अवश्य भोगता है, क्योंकि फलोपभोग के बिना कर्मों का नाश नहीं होसकता। जब हमने किसी

प्राणी को अत्यन्त दुखी देखकर विष द्वारा मार दिया या किसी से मरवा दिया, तब हम यही सोच कर शान्त होजाते हैं कि बेचारा दुःखों से छूट गया। किन्तु उस समय हम यह भूल जाते हैं कि देह का नाश होता है देही का नहीं होता। वह पुन दूसरा शरीर धारण कर वैसे ही या उससे भी अधिक भयानक दुःख भोगता है। ऐसी दशा में हमने उसके प्राण लेकर कोई परार्थ नहींकिया किन्तु स्वार्थ ही साधा है, क्योंकि उसकी वेदना अनुभव करके हमारे चित्त में जो दारुण दुःख होता था हम उसे सहन नहीं कर सकते थे, अतः हमने उसके प्राण लेकर अपना दुःख दूर किया—न कि उसका। कहावत प्रसिद्ध है— "जब तक साँसा, तब तक आसा"। क्या कोई पिता, जीवन से निराश होने पर भी अपने पुत्र के प्राण विष द्वारा ले सकता है? कोई कोई ऐसे केस देखने में आते हैं कि जिस रोगी को सब डाक्टरों और वैद्यों ने जवाब देदिया—मरणासन्न समझ पृथ्वी पर उतार लिया गया—फिर भी वह स्वयं चंगा होजाता है और सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करता है। ऐसी घटनाओं को देखकर भी डाक्टरों के कहने से किसी की जीवन लीला समाप्त कर देना अन्याय है।

धर्म के नाम पर हिंसा

धर्म-प्राण भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के परिशीलन से एक अद्भुत तथ्य निकलता है—यहाँ के पूर्वजों ने जिस वस्तु को जनता के लिये लाभकारक समझा, उसे उन्होंने धर्म का

बाना पहना दिया। "गौ में तेतीस करोड़ देवता निवास करते हैं" गंगा स्वर्ग की नदी है, इत्यादि रूपक इसी तथ्य के परिणाम हैं और इसीलिये हिन्दू जनता गौ तथा गङ्गा की विशेष भक्त देखी जाती है। यदि इन दोनों वस्तुओं को धर्म का रूप न देकर केवल लाभ की दृष्टि से ही देखा जाता तो आज इनकी इतनी अधिक पूजा न होती और गौहत्या के नाम पर सिर फुड़ौवल भी न होती। अस्तु !

कुछ बुद्धिमान मांसलोलुप व्यक्तियों ने इस तथ्य का दुरुपयोग किया और उन्होंने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की ओट में पशु-हत्या का बाज़ार गर्म कर दिया—यज्ञशालाओं ने बूचरखाने का स्थान ले लिया। इन मांस भोजियों की बर्बरता पशुओं तक ही समाप्त नहीं हुई किन्तु इन्होंने नरमेधयज्ञ के नाम पर मनुष्यों की हत्या करना भी धर्म बतलाया।

महाकवि भवभूति कृत उत्तर राम चरित्र* के चतुर्थ अङ्क में बाल्मिकि ऋषि के आश्रम में दो शिष्यों का संवाद दर्शनीय है।

* सौधातकिः — हु वसिट्ठो।
दण्डायनः— अथकिम्।
सौधातकिः — मए उण जाणिदं को वि वग्घो विअ एमोत्ति।
दण्डायनः — आः, किमुक्तं भवति।
सौधातकिः — जेण परावडिदेण एव्व सा वराई कविला कल्लाणी वलामोडिअ मडमडाइआ।
दण्डायनः — समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रोत्रियायाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा पचन्ति गृहमेधिनः। तं हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति।

एक शिष्य अपने सहपाठी से पूछता है– "क्यों भाई क्या हमारे आश्रम में आये हुये अतिथि कोई राक्षस हैं, जिन्होंने आते ही गुरू जी (बाल्मीकि) की बछिया को अपने उदर में रख लिया"। तब सहपाठी उत्तर देता है--अरे भाई! वे वशिष्ठ ऋषि हैं, शृङ्गी ऋषि के आश्रम से लौट रहे हैं। अनके आतिथ्य सत्कार के लिये गुरु जी ने मधुपर्क के लिये बछिया का वध करवाया है, इत्यादि।

इस पर हम अपनी ओर से क्या लिखें? जब वशिष्ठ जी जैसे महर्षि तेतीस करोड़ देवता की निवास भूमि गौमाता को उदरमें रख सकते हैं और बालमीकि जैसे ऋषि उसकी कुर्बानी कर सकते हैं तो फिर इन मुसलमानों ने क्या कसूर किया है जो उन्हें ही गोघातक कहा जाता है। हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि मुसलमान गोकशी करते समय वेद की ऋचायें न पढ़ कर कुरान की आयतें पढ़ते हैं।

काली के मन्दिरों में प्रति वर्ष लाखों बकरों की गर्दन काट २ कर देवी की भेंट चढ़ाई जाती है और उसे धर्म बतलाया जाता है। गत वर्ष बनारस के प्रसिद्ध काली देवी के मन्दिर में आश्विन मास में दशहरा के दिन किसी भक्तने भैंसे का सिर काट कर चढ़ाया था। जब पंडों ने उसे अपने हाथ से हलाल करना स्वीकार न किया तब भक्त ने ठंडे छुरे से उसकी गर्दन रेतना प्रारम्भ किया। कैसा रोमाञ्चकारी दृश्य था— लिखते हुए लेखनी थर्राती है— बूचरखाने में कसाई भी इतनी

निर्दयता से पशुओं का बध नहीं करता। किन्तु यह धर्मस्थान है जहाँ धर्म के नाम पर मूक पशुओं का खून बहाया जाता है और मूर्ख जनता को बहकाने के लिये धर्म की वेदी पर बलिदान किये हुए पशुओं का स्वर्गगमन बतलाया जाता है। इसी को लक्ष्य करके आचार्य देवसेन लिखते हैं—

जइ देवो हणिऊणं मंसं गसिऊण गम्मए सग्गं
तो णरयं गन्तव्वं अवरेणिह केण पावेण

— भाव संग्रह

अर्थात्— यदि पशु को मारकर उसका मांस खाने से स्वर्ग मिलता है तो फिर नरक जाने के लिये कौन सा पाप करना चाहिये।

एक पशु यज्ञ की बलिवेदी पर आकर श्रोत्रिय ब्राह्मण से कहता है—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वंमया ।
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतुं न युक्तं तव ॥
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो ।
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभि पुत्रैस्तथा बांधवैः ॥

—यशस्तिलकचम्पू

दयालु ब्राह्मण ! न तो मुझे स्वर्ग के सुख भोगने की ही लालसा है और न मैंने तुमसे इस के लिये प्रार्थना ही की है। मैं तो सर्वदा तृण घास खाने में ही सन्तुष्ट हूँ — मुझे मारना तुम्हें शोभा नहीं देता। अथवा यदि यह निश्चत है कि यज्ञ में मारे गये प्राणी स्वर्ग को जाते हैं तो परोपकारी पण्डित

अपने माता पिता, पुत्र आदि कुटुम्बी जनों के रक्त से क्यों नहीं यज्ञ करते हैं।

क्या हमारे वेदानुयायी भाई मूक पशु के इस प्रश्न का उत्तर देने की कृपा करेंगे ?

हिन्सा की इस विस्तृत परिभाषा को समझ लेने पर अहिंसा तत्वका-निर्णय स्वयं हो जाता है। अर्थात्— मन बचन काय, कृत कारित अनुमोदना, संरम्भ, समारंभ, आरंभ इन नौ प्रकारोंसे किसी जीव को न सताना और सर्वदा देख भाल कर सावधानीसे काम करना ही अहिन्सा है। जिस तरह भौंरा उद्यान में खिले हुए फूलोंको बिना हानि पहुंचाये उनका रसपान करता है उसी तरह मनुष्यको अपनी जीविकाके साधन ऐसे बनाने चाहियें जिनमें किसी अन्य प्राणी को कष्ट न पहुँच सके और यदि ऐसा सात्विक जीवन बिताते हुए भी हमारे अनजाने में किसी को हम से कष्ट पहुँच गया तो उसके अपराधी हम नहीं हैं। क्योंकि हमारा विचार उस को दुःख पहुँचाने का नहीं। अस्तु !

क्या जैनों की हिंसा अव्यवहारिक है ?

अहिन्सा के इस सूक्ष्म भाव-प्रधान विवेचन को पढ़ कर तथा जैनियों की बाह्य क्रियाओं— जैसे पानी छानकर पीना, रात में भोजन न करना आदि— को देख कर आमतौर पर विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि जैनियों की अहिंसा अव्यवहारिक है—उसका पालन करना अशक्य है, वह मनुष्य को अकर्मण्य बना देती है आदि। इन शब्दों के उत्तर में हमें यही कहना है

कि उन्हों ने "जैनी अहिंसा" के पालन करने की परिपाटी का सिंहावलोकन नहीं किया; अन्यथा उनके मुख से ऐसे उद्गार प्रगट न होते। एक बार हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोवाइस चान्सलर आचार्य ध्रुव ने अहिंसा पर अपने विचार प्रगट करते हुए कहा था "कि भारतीय धर्माचार्यों ने अपने २ धर्म के मूल में अहिंसा को स्थान अवश्य दिया किन्तु "उसका पालन किस अवस्था में कैसा किया जावे" इसका उत्तर जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में नहीं मिलता"। जैनी अहिंसा में यही विशेषता है कि वह अपने अनुयायियों को केवल आदर्श ही नहीं बतलाती, किन्तु उस आदर्श तक पहुँचने का मार्ग भी दर्शाती है। जब हम लोग अहिंसा के सर्वोच्च आदर्श की तुलना गार्हस्थ्य जीवन के साथ करने लगते हैं तब ही वह असम्बद्ध ठहरती है और इसी लिये विद्वत् समष्टि उसे अव्यवहारिक कह डालती है।

जैनधर्म में मुख्यरूप से दो आश्रम हैं—गृहस्थाश्रम और मुनि-आश्रम। गृहस्थ केवल स्थूल हिंसा का त्याग करता है और मुनि स्थूल और सूक्ष्म दोनों का। यदि गृहस्थ जीवन अहिंसा का पालन करने के लिये अभ्यासशाला है तो मुनि-जीवन उस की प्रयोगशाला।

इसीलिये गृहस्थ के आचरण को देश चारित्र या अणुव्रत कहते हैं और मुनि के आचरण को सकलचारित्र या महाव्रत हमारा लक्ष्य गृहस्थों को उस उच्च आदर्श तक पहुँचने का मार्ग

बतलाना है जिस पर पहुँच कर अपने पराये का भेद नष्ट होजाता है—संसार के जंगम तथा स्थावर प्राणी विश्व मैत्री के प्रेम पाश में बंध जाते हैं—हृदय की पवित्र चित्तवृत्ति के आकर्षण तथा वीतराग सौम्य मुख के अवलोकन से सिंह व्याघ्र आदि हिंसक पशु अपनी हिंसक वृत्तिको भूल कर पालतू कुत्ते की तरह प्रेम से पैर चाटने लगते हैं। आततायियों का पशुबल मिट्टी के खिलौनों की तरह व्यर्थ हो जाता है। अतः अहिंसा महाव्रत पर दो शब्द लिख कर हम विशेष गृहस्थ की अहिंसा का ही वर्णन करेंगे।

अहिंसा महाव्रत

ऊपर सामान्य अहिन्सा का जो विवेचन किया गया है उसमें अहिंसा महाव्रत भी शामिल है। अहिन्सा महाव्रत में मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग आवश्यक है। पूर्ण अहिंसा के पालक महापुरुष सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर, एकान्त स्थानों में निवास करते हैं। वे अपने शरीर से भी इतने विरक्त होते हैं कि प्रत्येक दो मास के बाद सिर और दाढ़ी मूछों के बालों को स्वयं अपने हाथ से उखाड़ कर फेंक देते हैं। उनकी कामाग्नि इतनी शान्त होती है कि काम विकार के छिपाने के लिए उन्हें लंगोटी लगाने की भी आवश्यकता नहीं होती। वे पञ्चाग्नि तप को जन्तुओं का प्राणघातक समझते हैं। सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिये मोर के पंखों की एक कोमल पिच्छिका

अपने पास रखते हैं, चलते समय उनकी दृष्टि जमीन पर रहती है जिससे पृथ्वी पर रेंगने वाले क्षुद्र जन्तुओं के वध की सम्भावना नहीं रहती।

एक बार पटना से प्रकाशित होने वाले "युवक" पत्रमें एक प्रोफेसर महाशय ने जैन साधुओं की मखौल करते हुए, एक अजीव कल्पना कर डाली थी। आपने लिखा था कि, जैन साधु जीवों की रक्षा के लिये पृथ्वी पर झाड़ू देते हुए गमन करते हैं इस नई खोज के लिये विद्वान ? लेखक को जितना धन्यवाद दिया जाये, थोड़ा है। भारत के शिक्षित समुदाय की कलुषित वृत्ति का यह एक नमूना है।

एक प्रतिष्ठित राष्ट्रीय पत्र के सम्पादक ने अपने अग्र लेख में अहिंसा पर विवेचन करते हुए लिखा था कि, पृथ्वी पर देख कर चलना आदि कार्यों का अहिंसा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। विद्वान सम्पादक की दृष्टि में सम्भवतः क्षुद्र जन्तुओं के जीवन का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि वे राष्ट्र के लिये लाभदायक नहीं है। किन्तु जीवन का रहस्य समझने वाले महात्मा पुरुषों की दृष्टि में क्षुद्र जन्तुओं का जीवन भी अपना अस्तित्व रखता है। वे जानते है कि क्षुद्र जन्तु भी अन्य शरीर धारियों की तरह ही अपने जीवन से ममत्व रखते हैं और सुख दुःख का अनुभव करते हैं उनकी उदार दृष्टि अपने राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है किन्तु विश्व का प्रत्येक जन्तु उनकी करुणा का पात्र है इसी लिये वे सब शक्य उपायों से प्रत्येक जीव की रक्षा का सतत प्रयत्न करते

हैं और अपने जीवन से अन्य जीव धारियों को जरा सी भी क्षति नहीं पहुंचने देते।

उन महात्माओं की चर्या, बात-चीत तथा विचार स्व-पर कल्याण में तत्पर रहते हैं। अज्ञानियों के दुर्वचन तथा मारण-ताड़न को हंस कर टाल देते हैं। क्रोध के कारण मिलने पर भी क्रोध नहीं करते, किन्तु विचारते हैं कि,—

अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि ।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥

'क्षत्र चूड़ामणि'

मूढ़ आत्मन्! यदि अपकार करने वाले पर क्रोध करता करता है तो फिर क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते हो। क्योंकि क्रोध, धर्म-अर्थ-काम, मोक्ष का और जीवन का नाश करने वाला है।

यथार्थ में सब अनर्थों का मूल क्रोध है अतः क्रोध पर क्रोध करना ही उत्तम क्षमा है और वह सुख शान्ति का मूल है ऐसे पूर्ण अहिंसक महापुरुषों के लिये किसी ने लिखा है—

येषां कानन मालयं शशधरो दीपस्तमच्छेदको,
भैक्ष्यं भोजन मुत्तमं वसुमती शय्या दिशश्चाम्बरम्।
सन्तोषामृत पान पुष्ट वपुषो निर्धूय कर्माणि ते,
धन्या यान्ति निवास मस्त विपदं दीनैर्दुरापं परैः ॥

जंगल ही जिनका घर है, अन्धकार नाशक चन्द्रमा दीपक

है। जो उत्तम भिक्षा-भोजन करते हैं, जिन की शय्या पृथ्वी और दिशायें ही वस्त्र हैं अर्थात् दिगम्बर रहते हैं, ऐसे, सन्तोष रूपी अमृत को पी कर पुष्ट रहने वाले भाग्य शाली महापुरुष, दीनों को अप्राप्य, विपत्तियों से दूर (अक्षय) निवासको प्राप्त करते हैं।

गृहस्थ की अहिंसा

हिंसा चार प्रकार की होती है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी।

सङ्कल्पी हिंसा विना अपराधके जान बूझ कर किसी जीव का बध करने को कहते हैं। जैसे कसाई पशुवध करता है।

उद्योगी हिंसा—जो जीवन निर्वाह के लिये वाणिज्य व्यापार खेती आदि करने, कल कारखाने चलाने तथा सेना में नौकर होकर युद्ध आदि करने में होजाती है।

आरम्भी हिंसा—जो भोजन आदि बनाने में यत्नाचार रखने हुये भी होजाती है।

विरोधी हिंसा—जो आत्मरक्षा या पर की रक्षा के लिये की जाती है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गृहस्थ स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं है केवल त्रसजीवों की हिंसा का त्यागी है. किन्तु गृहस्थाश्रम की प्रथम सीढ़ी पर पदार्पण करने के लिये त्रस जीवों की उपर्युक्त चार प्रकार की हिंसा में से वह केवल सङ्कल्पी हिंसा का त्याग करता है। इस हिंसा के त्यागने से उसे जीवन निर्वाह आदि संसारिक कार्य करने में कोई रुकावट नहीं

आती। यह हिंसा केवल मनोविनोद या मांस भक्षण आदि के लिये की जाती है। आश्चर्य है कि मानव समाज " Live and let live (रहो और रहने दो) " के सिद्धान्त को भूलकर केवल मनोविनोद या उनके मांस से अपना पेट भरना जैसे जघन्य कृत्यों के लिये दूसरे प्राणियों का हनन कर डालता है। आज कल के मनुष्य उद्योगी, आरम्भी और विरोधी कार्यों में इतनी हिंसा नहीं करते जितनी सङ्कल्पी (इरादतन) हिंसा कर डालते हैं। मांसाहारियों में यह दोष बहुत अधिक पाया जाता है। वे पापी निर्दयी और अत्याचारी होते हैं। दूसरे प्राणियों को वे प्राणी ही नहीं समझते किसी पर जुल्म होते हुये देख कर उनके हृदय में आनन्द उत्पन्न होता है। वे नहीं सोचते कि दूसरे शरीरधारी भी मारने काटने पर हमारी ही तरह दुःख अनुभव करते हैं। राजाओं या क्षत्रियों का शिकार खेलना भी इसी सङ्कल्पी हिंसा में गर्भित है। राजा लोग केवल मनोविनोद के लिये जङ्गल में स्वच्छन्द विहार करने वाले तृणाहारी मूक पशुओं पर अपना घोड़ा दौड़ाते हैं। गर्भिणी मृगी गर्भभार से क्लान्त होने पर भी अपने प्राण बचाने के लिये इधर उधर दौड़ती है किन्तु अन्यायी मनुष्य संसार में शान्ति स्थापन का दम भरने वाले राक्षस उन पर अपना वार कर ही बैठते हैं और एक ही तीर से दो का शिकार करते हैं। शरणागत की रक्षा करने वाले क्षत्रियों का भागते हुवे के पीछे दौड़ना, क्या क्षत्रियत्व की आन में बट्टा नहीं लगाता? जो राजपूत युद्धस्थल में सन्मुख खड़े हुवे शत्रु को निहत्था देख

कर तलवार म्यान में कर लेते थे, वे ही जंगल में भयभीत हरिणों तथा हरिणियों पर वार करें—क्या यही क्षत्रियत्व है ? क्षत्रिय की तलवार हमेशा अत्याचारको दूर करने के लिये ही उठती है न कि अत्याचार करने के लिये। यदि रमणीपर वार करना अधर्म है तो क्या हरिणीपर वार करना धर्म है ? क्या हरिणी रमणी नहीं है ?

महाभारत के अनुशासन पर्व में व्यास जी ने शिकार करने का समर्थन किया है। जो व्यक्ति हिंसा को भी धर्म बतला सकता है उसके लिये शिकार का समर्थन करना मामूली बात है, किन्तु वह जिस विचार के अनुसार किया गया है वह अवश्य आश्चर्य जनक है। लोकमान्य तिलक गीतारहस्य के कर्मजिज्ञासा नामक परिच्छेद में महाभारत का निम्न श्लोक उद्धृत कर इस प्रकार लिखते हैं—

महाभारत में अर्जुन कहता—

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥

—शान्तिपर्व

"इस जगतमें ऐसे २ सूक्ष्म जन्तु हैं कि जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से नहीं देख पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है। ऐसे जन्तु इतने हैं कि यदि हम अपनी आंखों के पलक हिलावें तो उतने ही उन जन्तुओं का नाश होजाता है"। ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहें कि "हिन्सा मत करो" "हिन्सा मत करो" तो उससे क्या लाभ होगा ? इसी विचार के

अनुसार अनुशासन पर्व में शिकार करने का समर्थन किया गया है।

ऊपर लिखे इस विवरण से यही आशय निकलता है। कि प्रयत्न करनेपर भी सूक्ष्म जीवोंकी हिन्सा नहीं रुक सकती— चलते फिरते उठते बैठते उनका वध हो ही जाता है। अतः 'हिन्सा मत करो', 'हिन्सा मत करो', चिल्लाना व्यर्थ है और इसी लिये शिकार भी करना चाहिये। ज्ञात होता है व्यास जी ने द्रव्यहिंसा को ही हिन्सा समझा है। यदि वे द्रव्यहिन्सा और भावहिंसा के भेद को समझ लेते तो उन्हें शिकार जैसी निन्द्य प्रथा का समर्थन न करना पड़ता। हम पहिले अहिंसा सामान्य के विवेचन में लिख आये हैं कि हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्यहिंसा को तो सिर्फ इस लिये हिंसा कहा जाता है कि उस का भाव हिन्सा के साथ सम्बन्ध है फिर भी द्रव्यहिंसा के होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है। किसी जीव को जानबूझ कर मारना, प्रमादवश जीव-हत्या होना, यत्नाचार रखते हुए भी दृष्टिदोष से जीव-वध होना और प्रयत्न करने पर भी सूक्ष्म होने के कारण जीव-बध को न रोक सकना, इन चारों बातों में बहुत भेद है। यदि सूक्ष्म जीवों के बध का रोकना अशक्य है तो जानबूझ कर चलते फिरते निरपराधी स्थूल जीवों का भी बध करना चाहिये, यह कहां का न्याय है। कोई कसाई अपनी आजीविका

का साधन होने से गौहत्या का हमेशा के लिये त्याग नहीं कर सकता। इसलिये यदि वह ऐसी प्रतिज्ञा करे कि मैं सप्ताह में एक दिन गौहत्या न करूंगा तो उससे यह कहना कि 'या तो हमेशा के लिये त्याग कर—नहीं तो एक दिन के लिये भी त्याग मत कर' घोर अज्ञानता है। यदि कोई मनुष्य अपनी कमजोरी के कारण या गवर्नमेन्ट का नौकर होने के कारण खद्दर नहीं पहन सकता, किन्तु देशी मिलों का वस्त्र पहनने की शपथ करता है तो उससे यह कहना कि, 'या तो खद्दर पहनो नहीं तो फिर विलायती ही पहनो'—कितनी ना समझी है। एक ऐसे मनुष्य से—जो विदेशी वस्त्र का दास होने के कारण विदेशी बायकाट के पक्ष में एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता है और समझाने से लड़ने को दौड़ता है—वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो अपनी असमर्थता के कारण विलायती वस्त्र का त्याग तो नहीं करता किन्तु उसे हृदय से बुरा समझता है। जैनधर्म के अनुसार तो यदि कोई कसाई प्रतिदिन गिने चुने पशुओं के मारने की प्रतिज्ञा लेता है तो वह भी अहिंसाणुव्रत की जघन्य श्रेणी में गिना जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति व परिस्थिति और व्यवसाय के अनुसार हिंसा का त्याग कर अहिंसकों की श्रेणी में अपना नाम लिखा सकता है। जैन पुराण ऐसे दृष्टान्तों से भरे हुये हैं।

(१) एक मुनि ने एक मांसाहारी भील को "कौवे के मांस" का त्याग करा दिया था (पढ़ने वाले शायद हंसेंगे),

किन्तु एक बार उसके इस त्याग की परीक्षा का समय आया—वह बीमार पड़ा—उसे पेचिस होगई। वैद्यों ने "काक मांस" खाने को बतलाया, किन्तु प्रतिज्ञा से लाचार था—अन्त को उस का मरण हुआ और उसने सद्गति पाई।

(२) इसी प्रकार एक मछुआ मछली मारने के लिये जारहा था। रास्ते में एक साधु महात्मा से उसकी भेंट हुई। साधुजी ने उसे अहिंसा का उपदेश दिया। किन्तु मछली मारकर ही वह आजीविका करता था, अतः महात्मा ने " जालमें जो पहिली मछली आवे उसे न मारना" ऐसी प्रतिज्ञा देकर उसे विदा किया। मछुएने नदी पर पहुँच कर अपना जाल डालदिया और जो पहिली मछली आई उसमें पहचान के लिये डोरा बांधकर जलमें छोड़ दिया और फिर जाल फैलाया। फिर भी वही मछली आई और उसने उसे जलमें छोड़ दिया। इसी प्रकार संध्या होगई और वह खाली हाथ घर लौट आया। इत्यादि।

इन पौराणिक चित्रों से अहिंसा की त्यागशैली का अच्छा दिग्दर्शन होता है। व्यास जीने जिस सूक्ष्म हिंसा का त्याग अशक्य होने के कारण स्थूल हिंसा का भी समर्थन कर डाला उसी के लिये जैन धर्म इस प्रकार उपदेश करता है—

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

सूक्ष्म जीव (जो अदृश्य होते हैं न तो किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं) तो पीड़ित नहीं किये जासकते और

कि कसाई मांस बेचने के लिये जो पशु-बध करता है वह उद्योगी या आरम्भी हिन्सा नहीं है, किन्तु सङ्कल्पी हिन्सा है। क्योंकि मांस मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है, अतः उसका व्यापार भी अप्राकृतिक तथा अमानुषिक है। मनुष्यों को वही व्यापार करना चाहिये, जिस में सङ्कल्पपूर्वक किसी जीव का बध न करना पड़े। लिखा भी है कि—

आरम्भेऽपि सदा हिन्सां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैःपापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥ ८२ ॥

सागार धर्मामृत अ० २

अर्थात्—बुद्धिमान् मनुष्य को कृषि आदि आरम्भ में भी जान बूझ कर किसी जीव को नहीं मारना चाहिये। खेत जोतते समय सैकड़ों जीवों का बध करने वाले किसान से तालाब में जाल डाल कर बैठा हुआ मछुआ अधिक पातकी है। क्योंकि किसान का उद्देश्य खेत जोत कर अन्न पैदा करने का है, जीव वध तो होजाता है। किन्तु धीवर का ध्यान मछलियों को मारकर ही अपनी आजीविका करने की ओर है। यदि उसके जाल में कोई मछली नहीं आये, फिर भी वह पापी है, क्योंकि उसके भाव मछलियों के मारने के ही हैं। हिंसक वृत्ति वाले मनुष्य भी किस प्रकार अहिंसक बन सकते हैं, इसके दृष्टांत हम ऊपर बतला चुके हैं।

अकसर लोग यह प्रश्न उठाया करते हैं कि जब जैनधर्म के अनुसार जल तथा बनस्पति आदि भी जीवों का कलेवर ही है

तब निरामिष भोजियों को बनस्पति आदि का भी भक्षण नहीं करना चाहिये। परन्तु "सप्तधातुसमाश्रितं माँसं" जो सप्तधातु से युक्त कलेबर है उसको ही मांस कहते हैं। बनस्पति में सप्त-धातु नहीं पाई जाती। अतः उसकी मांस संज्ञा नहीं होसकती।

आशाधरजी ने भी इस शङ्काका अच्छा समाधान किया है—

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं माँसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१०॥

—सागारधर्मामृत अ० २

अर्थात—यद्यपि अन्न भी जीवका कलेवर है फिर भी धार्मिकों के लिये अन्न ही खाद्य है. मांस नहीं। जैसे माता भी स्त्री है और पत्नी भी स्त्री है। इस तरह स्त्रीरूप से समानता होने पर भी पत्नी ही भोग्य है, माता नहीं।

बुद्धदेव का मत है कि "स्वयं मारकर किसी प्राणी को नहीं खाना चाहिये, किन्तु यदि कहीं पर कोई मरा हुआ जीव मिल जावे तो उसका मांस खाने में कोई हानि नहीं"। हम ऊपर लिख आये हैं कि मांस-भक्षण मनुष्य हृदय की कोमल वृत्तियों को क्रूर बना देता है और क्रूर हृदय प्राणी संयमी नहीं होसकता तथा माँस के अन्दर भी सूक्ष्म काय के जीव फौरन पैदा होजाते हैं जो भक्षण करने से मर जाते हैं—

हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन् वा स्पृशन्पलम्।
पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ॥७॥

सागारधर्मामृत अ० २

"स्वयं मरे हुये प्राणी के मांस को भक्षण करने वाला या स्पर्श करने वाला भी हिंसक है, क्योंकि पके या बेपके हुए मांस में सदा सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है"।

तथा—

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शकिन्य इव दुर्धियः॥

जिसको मांस खाने का चसका पड़ गया है ऐसे मांस-आस्वादन के लोलुपी प्राणी की बुद्धि, दुष्ट पक्षियों की तरह, स्वयं प्राणियों को मारने में लग जाती है। इस लिये सच्चे दयालु को किसी भी तरह जीवों का मांस नहीं खाना चाहिये। यदि विलायती वस्त्र के व्यापारी भारत में मुफ़्त अपना कपड़ा भेजने लगें तो क्या विदेशी वस्त्र के सच्चे त्यागी उसे पहिनना स्वीकार करेंगे? कभी नहीं। क्योंकि कुछ दिनों तक मुफ़्त पहिनने से फिर पैसे देकर पहिनने पड़ेंगे। शराब आदि के लिये भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

हम ऊपर दिखला चुके हैं कि हिन्दू धर्मशास्त्रों में किस प्रकार धर्म की आड़ में हिन्सा का बाज़ार लगाया गया है। इस निबन्ध में बीच २ में जो हम ने भारतीय धर्मों का नामोल्लेख करके उसके अन्दर होने वाली हिंसा का दिग्दर्शन कराया है, उससे हमारा अभिप्राय उसके पालने वालों के दिल दुखाने का नहीं है। किन्तु इस धर्मरूपी शरीर के अन्दर जो हिंसा रूपी

विकार भरा हुआ है, हम उसे चीरा देकर बाहर निकालना चाहते हैं जिससे उसी विकार से ग्रसित रोगमुक्त होकर सच्चा धर्म कहलाने का पात्र होजावे। स्मृतिकारों ने तो आपत्काल में "प्राणस्यान्तमिदं सर्वं" की योजना करके सब जीवों को अन्न बना डाला है। अर्थात् आपत्ति के समय माँस और धान्य सब एक है—मांस ही धान्य है। यह स्वार्थबुद्धि की पराकाष्ठा है। मनुष्य अपने प्राणों के लोभ से सैकड़ों जीवों के प्राण ले लेता है। जब भारतीय धर्मों में हिंसा के ऐसे २ उदाहरण पाये जाते हैं तब हम अपने पड़ोसी मुसलमानों से किस तरह अहिंसक बनने के लिये प्रार्थना करें। फिर भी अपना कर्तव्य समझ कर इतना कहना ही पड़ता है कि भाइयो जिन्दगानी चन्द्‌रोजा है। चन्द्‌रोज के वास्ते दूसरे जीवों को—जो तुम्हें कोई कष्ट भी नहीं पहुँचाते—क्यों मार २ कर खाते और देवता को चढ़ाते हो। जिस तरह अपने तई किसी से सताये जाने पर तुम दुख अनुभव करते हो, उसी तरह पशु भी करते हैं। वे भी तुम्हारी ही तरह से तड़फते—और चिंघाड़ते हैं। किन्तु मूक होने से कुछ कह नहीं सकते। देवी देवताओं के पुजारियो और पण्डो! अपने २ छुरों को म्यान में रक्खो और भक्तों को समझाओ कि देवी बकरे की बली नहीं चाहती है—उसकी पूजा तुम फल फूलों से भी कर सकते हो। जब तक ऐसा न होगा—हिंदूधर्म के नाम पर से खून के धब्बे न मिट सकेंगे और न अपने पड़ोसी मुसलमानों को ही हम गोहत्या से रोक सकेंगे।

स्थूल जीवों में जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है। फिर संयमी को हिंसा का पाप कैसे लग सकता है ?

कुछ लोगों का कहना है कि, "शिकार खेलने से वीरता आती है इस लिये मृगया करना क्षत्रिय का कर्तव्य है"। ज्ञात होता है उन्होंने वीरता का आशय नहीं समझा। शायद वे निर्दयता तथा क्रूरता को ही वीरता समझते हैं, जो शिकारी मनुष्य में प्रायः देखी जाती है यदि नृशंसता का नाम ही वीरता है तो निहत्थों को गोली या बम से शिकार करने वाले भी वीर कहे जा सकते हैं यथार्थ में वीरता एक आन्तरिक शौर्य है जो तेजस्वी पुरुषों में समय २ पर अन्याय व अत्याचार का दमन करने के लिये आविर्भूत होती है न कि भागते हुए मूक पशुओं के जीवन के साथ रक्त की होली खेलने के लिये।

संसार में दो प्रकार के राज्य पाये जाते हैं—मानवराज्य और पशु-राज्य। एक का अधिकार बस्ती में है और दूसरे का निर्जन बनों में। जिस प्रकार निर्जन प्रदेश का प्राणी मानवराज्य में उत्पात मचाने पर वध्य समझा जाता है, उसी प्रकार मानवराज्य का प्राणी यदि निर्जन बनों के प्राणियों पर अत्याचार करता है तो अवश्य वध्य है यह सृष्टि का न्याय है। मनुष्य बुद्धिबल से अन्धा होकर इस सृष्टि-न्याय का उल्लंघन करता है—शान्त बनों में जा कर अशांति फैलाता है। क्या यह वीरता है ? वीरता शांति स्थापित करने के लिये होती है उसे नष्ट करने के लिये नहीं। किन्तु प्रजा में फैली हुई अशान्ति को मेटने के लिये वीर

पुरुष जो प्रयत्न करते हैं वह स्वयं अशाँति रूप होने पर भी अशांति को मेटने वाला होने के कारण अशांति कारक नहीं कहा जा सकता। वीर पुरुष आवश्यकता पड़ने पर ऐसी ही अशाँति को करते हैं जो अत्याचारों के मेटने के लिये की जाती है। अतः शिकार और सच्ची वीरता में कोई सम्बन्ध नहीं है।

बहुत से मनुष्यों को तीतर बटेर आदि की लड़ाई देखने में बड़ा आनन्द आता है। लखनऊ के नवाबों ने तो इस विनोद के पीछे अपनी सल्तनत ही गंवा दी। मुगल जमाने के एक बादशाह को निहत्थे मनुष्य और भूखे शेर की लड़ाई देखने में बड़ा आनन्द आता था और इस तरह वह एक मनुष्य की जान ले लेता था। अधिक कहाँ तक लिखें। केवल दिल बहलाव के लिये किसी की जान ले लेना कितना अमानुषिक अत्याचार है। जंगली हिंस्र पशु तो भूख से व्याकुल होने पर ही दूसरों पर आक्रमण करते हैं, किन्तु सभ्यता की डींग मारने वाले नरपशु दिल बहलाने के लिये भी दूसरों के प्राण ले लेते हैं।

गत वर्षों में हिन्दू मुसलिम वैमनस्य के कारण बहुत सी जगह दंगे हुए, जिनमें हिन्दुओं के जान माल की बहुत हानि हुई इस क्षति को देखकर एक हिन्दूनेता ने हिन्दुओं में क्रूरता और बर्बरता पैदा करने के लिये उन्हें मांस खाने का आदेश किया। बहुत से मनुष्यों ने माँस खाना प्रारम्भ भी कर दिया।

प्राचीन शास्त्रकारों का मत है कि शत्रु को परास्त करने के लिये उसके गुणोंको अपनाना चाहिये-दोषों को नहीं माँस-भक्षण

एक दोष है, क्योंकि वह नैतिक पतन का मुख्य कारण है। यदि हिन्दू जाति ने हिन्दू सभ्यता को ठुकरा कर नैतिक पतन की ओर अपना पैर बढ़ाया तो ऐसी दशा में प्रत्येक हिन्दुत्व का अभिमानी हिन्दू मर जाना ही पसन्द करेगा। क्या मुसलमानों के रहन सहन और सभ्यता को अपना कर केवल हिन्दू नाम के लिये देश में अशान्ति बनाये रखना उचित है? जो जाति अपनी सभ्यता को स्थिर नहीं रख सकती उसका संसार में स्थिर रहना दुष्कर है। हिन्दुत्व का गौरव सात्विक वीरता में है तामसिक में नहीं। सात्विक वीरता संसार को शान्ति का उपदेश देती है और अत्याचारों का दमन करती है। परन्तु इस केविपरीत तामसिक वीरता संसार में अशान्ति फैलाती है और अत्याचारों को बढ़ाती है यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि हिन्दू मांस-भक्षक मुसलमानों को नहीं जीत सकते, तो हिन्दुओं में मांसभक्षकों की संख्या बहुत काफ़ी है। पञ्जाब तथा पूरब देश के रहने वाले हिन्दू तो अधिकतर मांसहारी ही हैं (यहाँ तो एक जैन समाज ही ऐसी निरामिष भोजी जाति है जो प्राण जाने पर भी मांस को छूना पसन्द नहीं करती), फिर भी मुसलमानों से वे लोहा नहीं ले सकते। यथार्थ में हिन्दुओं तथा जैनियों में जो कायरता आगई है इसका कारण अहिन्सा नहीं है, किन्तु सदियों की गुलामी है। जिस जाति में संगठन तथा पारस्परिक सद्भाव का अभाव होता है, जिसके बच्चों को बचपन से ही लोभी और पैसे का दास बना दिया जाता है शारीरिक व्यायाम से जो

कोसों दूर भागते हैं जिन्हें माता के दूध के साथ " मारते के पीछे और भागते के आगे " का मन्त्र सिखाया जाता है, जो गद्दी तकियों के बीच में पड़े हुवे इस मन्त्र को रात दिन जपा करते हैं कि—

आपदर्थे धनं रक्षेत् दारान् रक्षेत् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि ॥

अर्थात्—आपत्ति के लिये धन को बचाना चाहिये और स्त्री पर आपत्ति पड़ने पर धन देकर स्त्री रक्षा करनी चाहिये, किन्तु अपने जीवन पर यदि सङ्कट उपस्थित हो तो धन और स्त्री दोनों को देकर अपनी रक्षा करनी चाहिये।

ऐसे स्वार्थी जीवन के कीड़ों का यदि पतन न हो तो क्या उत्थान होगा ?

इस प्रकार गृहस्थ-त्रस जीवों की उक्त चार प्रकार की हिन्सा में से केवल सङ्कल्पी हिन्सा का त्याग करता है—आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिन्सा का त्याग नहीं करता है। गृहस्थाश्रम के ग्यारह दर्जों में से—जिन्हें प्रतिमा नाम से पुकारा जाता है—अहिन्साणुव्रत का निर्दोष पालन दूसरी प्रतिमा में होता है और कृषि वाणिज्यका त्याग आठवीं प्रतिमा में होता है। जो पाठक हिन्सा की क्रमशः त्याग-शैली का अध्ययन करना चाहें वे जैन ग्रन्थों से ग्यारह प्रतिमा का स्वरूप जान कर अहिन्सा की व्यापकता तथा व्यावहारिकता को समझ सकते हैं। यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

अहिंसा और हमारा पतन

अक्सर विद्वान लोग जैनी-अहिन्सा पर कायरता का लांछन लगाया करते हैं। कुछ दिन हुए एक प्रमुख नेता ने तो भारत वर्ष का इतिहास में भारत वर्ष के पतन का मुख्य कारण "अहिंसा" को बतलाते हुए लिखा था कि "जैनियों की अहिंसा ने भारत को गारत कर दिया और भारतीयों को बुजदिला तथा कायर बना डाला"। क्या यह सत्य है? क्या वास्तव में अहिंसा कायरता की जननी है? भारत वर्ष के पतन का इतिहास तथा जैनी अहिंसा के सत्य स्वरूप का परिशीलन करने से उत्तर मिलता है— "नहीं"।

प्राचीन समय में वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रजारक्षण का कार्य क्षत्रिय किया करते थे। उन्हें समय समय पर स्वदेश रक्षा के लिये युद्ध भी करना पड़ता था। जैन धर्म के २४ तीर्थ-कर तथा विशेष पुरुष क्षत्रिय वंश में ही उत्पन्न हुए थे, जिन्हों ने अपने गार्हस्थ्य जीवन में अनेक दिग्विजय की थीं। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त, कलिङ्ग देश को विजय करने वाले महामेघ वाहन खारवेल, चामुण्डराय आदि जैन वीर योद्धा तो भारतीय इतिहास के उज्वल रत्न हैं। जब से जैनधर्म की बागडोर केवल वैश्यों के हाथ में रह गई—जिनका प्रधान व्यवसाय वाणिज्य है—तब से अहिंसा धर्म में कायरता की गन्ध आगई। किन्तु इसका दोष जैनधर्म पर नहीं आ सकता। वह तो स्पष्ट शब्दों में कहता है—

नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ।

अर्थात्—जैन धर्म का सच्चा श्रद्धानी वही है जो सात प्रकार के भय से सर्वदा दूर रहता है। जो डरपोक है—आततायियों की हुकार सुन कर जिस की घिग्घी बंध जाती है, जो अत्याचारों को सहते हुए भी अपनी बुजदिल के कारण चुप्पी साधे रहता है, वह जैनी नहीं है—जैन धर्म पर कलङ्क का टीका है। अहिंसा का यह आशय नहीं है कि हम अपनी शक्तियों का नाश करके कमजोर बन कर पृथ्वी का भार बनें। ऐसे जीवन से मृत्यु लाख गुनी अच्छी है। जब कोई मनुष्य किसी कमजोर पर वार करता है और कमजोर मनुष्य अपनी असमर्थता के कारण दिल ही दिल में क्रोध को पीकर शान्त बना रहता है तब वह अहिंसक नहीं कहा जा सकता। अहिंसा तभी संभव है जब कष्ट सहते हुवे भी कष्ट देने वाले के प्रति मन, वचन, काय से क्रोध के भाव प्रगट न हों—दुष्ट की दुष्टता को आन्तरिक शांति की ढाल पर सह लिया जावे। ऐसी दशा में वह कायरता नहीं है। हाँ, यदि वह मैदान छोड़ कर भाग जाय तो अवश्य कायर है। यह बात सर्व सम्मत है कि सच्चे वीर अत्याचारी को अपनी पीठ नहीं दिखलाते हैं और सन्मुख डट कर उसके अत्याचारों का प्रतिकार करते हैं। वह प्रतिकार दो तरह से किया जाता है। आत्मा के द्वारा और शरीर के द्वारा। जब वह आत्मा के द्वारा किया जाता है तब अहिंसा कहलाता है और जब आत्मिक दुर्बलता के कारण अस्त्र

शस्त्र की सहायता लेकर शरीर के द्वारा किया जाता है तब वीरता कहलाती है प्रथम श्रेणी का प्रतिकार संसार की सर्वश्रेष्ठ वीर-शिरोमणि निर्भय आत्मा ही कर सकती है, किन्तु जिनका आत्मिक तेज इतना विकसित तथा आत्मिक शक्तियां इतनी प्रौढ़ नहीं हुई हैं उनके लिये दूसरा उपाय है। परन्तु जो आत्मिक तथा शारीरिक दोनों दुर्बलताओं से दुर्बल हो रहे हैं, जिन्हें अपने क्षुद्र-जीवन का मोह कायरता का बाना पहिनने को विवश करता है, वे जीवन के कीड़े अहिंसा धर्म की ओट में बाह्य-शांति का स्वांग रच कर "क्षमा" "क्षमा" चिल्लाते हैं—क्या उन्हें क्षमा शोभा देती है ? "क्षमा वीरस्य भूषणम्" वीर पुरुष को ही क्षमा शोभा देती है। कायर और डरपोक को नहीं। शहाबुद्दीन गौरी को बार २ जीत कर छोड़ देने वाले पृथ्वीराज चौहान को ही क्षमा शोभा देती है। कुड़ची के जैन मन्दिर को मुसलमानों द्वारा टूटता हुवा देख कर घरों में छिप जाने वाले डरपोक जैनियों को नहीं। अहिंसा धर्म की दृष्टि में जिस प्रकार निरपराध को सताना पाप है, उसी प्रकार अपनी दुर्बलता के कारण अत्याचारी के अत्याचार को सहलेना उस से बढ़ कर पाप है। क्योंकि कमजोर बन कर अत्याचारों का सहन करना—अत्याचारी को अत्याचार करने का अवसर देता है। अध्यात्म शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् एक जैनाचार्य लिखते हैं:—

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥

यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद्द्रष्टुम् च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥

अर्थात—धर्म के आयतन जिन-मन्दिर जिनबिम्ब आदिक में से किसी एक पर भी आपत्ति आ जाने पर सच्चे जैनी को उस के दूर करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। अथवा जब तक उस के पास आत्म बल, तलवार का बल और धन का बल रहता है तब वह उस आक्रमण को न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है।

यह है सच्चे अहिंसक की वीरता और आत्मोत्सर्ग का ज्वलंत चित्र। क्या आज कल के जैनी भी आपत्ति के समय अपने आचार्य की इस वीरोक्ति का आँख और कान बन्द करके पालन करते हैं?

शोक! जिस धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर पशुओं पर किये जाने वाले अत्याचार को न देख सके, उस धर्म के मानने वाले अत्याचार को अहिंसा की ओट में कायर बन कर सहलेते हैं और न्याय की भीख के लिये झोली पसार देते हैं हमारा कैसा भीषण पतन है? हमने अपने आचरणों से अपने महापुरुष की सौंपी हुई अहिंसा-कृपाण पर कायरता का जङ्ग लगा दिया। इस हमारी अकर्मण्यता को ही अहिंसा धर्म समझ कर अन्यान्य लेखक गण हमारे धर्म पर आक्षेप किया करते हैं। एक बार "सुधा" पत्रिका में किसी ने लिखा था "जैन बौद्ध सिद्धान्तों में अहिंसा धर्म के बाह्यरूप पर अधिक जोर दिया गया है परन्तु

भगवान कृष्ण ? ने अहिंसा के आन्तरिक और आध्यात्मिक आदर्श को बतलाया है" ।

पाठकगण ! ऊपर लिखे हुवे विवरण से जैनी अहिंसा के बाह्य तथा आध्यात्मिक रूपको समझ गये होंगे । ऊपर लिखा जा चुका है कि जैन धर्म के अनुसार किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार होते ही हिंसा प्रारम्भ हो जाती है—चाहे हम अपने कार्य में सफल हों चाहे न हों । यदि हम किसी के कष्ट में खुशी मनाते हैं तब भी हिंसक हैं । हाँ—यदि यत्नाचार रखते हुये भी दृष्टि दोष से कोई जीव मर जाता है तो हम हिंसक नहीं कहे जा सकते हैं । हिंसा नहीं होने पर भी हिंसा और हिंसा होजाने पर भी अहिंसा का गूढ़ समावेश, आध्यात्मिक नहीं—तो क्या वाह्य है ? जैनधर्म बाह्य हिंसा को तो हिंसा इसलिये कहता है कि उसका आध्यात्मिक हिंसा से सम्बन्ध है । यथार्थ में तो आध्यात्मिक हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है । हाँ—यदि व्यासजी ने स्वरचित गीता में श्रीकृष्ण के सम्मुख से अर्जुन का मोह दूर करने के लिये जो उपदेश किया है उसे लक्ष्य करके लेखक महोदय ने उक्त शब्द लिखे हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं हैं—क्योंकि जैनधर्म युद्ध में जानबूझ कर की जाने वाली नर हत्या को हिंसा ही कहता है—लेखक की तरह आध्यात्मिक अहिंसा नहीं कहता । यद्यपि आपत्ति आने पर क्षत्रिय के लिये वह हिंसा अनिवार्य है और उसके द्वारा स्वदेश

पर आने वाली विपत्ति तथा अत्याचारों की घटाओं को छिन्न भिन्न करता है। जिससे उसे पुण्य बहुत अधिक होता है। फिर भी जान बूझ कर की गई हुई नरहत्या को अहिंसा नहीं कह सकते। गीता के "जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य वा" जो जन्मता है वह मरता है और जोमरता है वह अवश्य जन्म लेता है — इस तथ्य को जैनी भी मानते हैं और उनका यह भी सिद्धान्त है कि देहका नाश होता है, देही का नहीं होता है। फिर भी हमें यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि प्राणियों को प्राकृतिक मरण की अपेक्षा अप्राकृतिक मरण का ही अधिक भय रहता है और इसीलिये वह आत्मरक्षा करने को शस्त्र ग्रहण करता है—अब यदि—

> य एन वेत्ति हन्तारं यश्चैनम् मन्यते हतम्।
>
> उभौ तौ न विजानीते नायं हन्ति न हन्यते॥
>
> भगवद्गीता।

"जो आत्मा को मारने वाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है। यथार्थ में न तो यह मरता है और न मारता है।

इसी उपदेश को प्रत्येक प्राणी अपना आदर्श बनाले तो संसार में रक्त की नदियां बह निकलें और चारों ओर त्राहि २ मच जाये। एक प्राणी दूसरे प्राणी के खूनका प्यासा है और खून की प्यास संसार की सुख शाँति को नष्ट करने वाली है।

इसी बात को लक्ष्य में रख कर प्रत्येक धर्म में थोड़े बहुत रूप में हिंसा त्याग का उपदेश दिया है।

किसी आत्मा को वर्त्तमान शरीर से अलग कर देने का नाम ही हिंसा है (आत्मा के नाश कर देने को हिन्सा कोई नहीं कहता है क्योंकि वह अशक्य है) और जो इस काम को अत्याचार से वा जानबूझ कर करता है वह अवश्य हिंसक है। क्योंकि किसी का वध करने में उसको कष्ट पहुँचता है और वह प्राणों के मोह से तड़पता है। इसी कष्ट पहुंचाने और तड़पाने के कारण मनुष्य हिंसक और निर्दयी गिना जाता है। यदि कर्त्तव्य समझ कर की गई हुई प्राणिहत्या को हिंसा नहीं कहा जाता है तो यज्ञ में धर्म समझ कर जो प्राणि वध किया जाता है उस में लगे हुए दोष के लिये प्रायश्चित का विधान स्मृतिकारों ने क्यों किया है? अतः कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य के अनुरोध से जानबूझ कर की गई हुई हिंसा, हिंसा ही है। अस्तु!

आगे चल कर लेखक महोदय ने लिखा है कि 'अर्जुन का (कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने बन्धु बांधवों की हत्या से भय भीत होकर रथ से विमुख होने का आदर्श अनार्यों का— बौद्ध और जैनों का—मार्ग है। वह आर्यों का—हिन्दू जाति का—आदर्श कदापि नहीं। हिन्दू जाति ऐसे झूठे अहिंसा के आदर्श को नहीं मानती"।

अब तक तो वेदानुयायी जैनियों को नास्तिक शब्द से पुकारा करते थे, किन्तु लेखक महोदय की कृपा से उन्हें एक "अनार्य"

का भी टाईटिल मिल गया। अस्तु! लेखक महोदय ने गीता के प्रथम अध्याय में वर्णित अर्जुन की उक्ति समझने का प्रयत्न नहीं किया—अन्यथा वे अहिंसा धर्म पर लाँछन न लगाते। अर्जुन हिंसा के भय से युद्ध से विरत नहीं हो रहा है, किन्तु स्वबान्धवों तथा स्वकुलका विनाश उसे कर्त्तव्यच्युत कर रहा है। उस समय अर्जुन के हृदय में अहिंसा की ज्योति, जिसके प्रकाश में मनुष्य प्राणिमात्र को अपना बन्धु और संसार को अपना कुटुम्ब जानता है, नहीं झलक रही है। उसके हृदय में तो मोह ने अपना साम्राज्य जमा लिया है। वह बार बार कहता है:—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।

हे मधुसूदन! आचार्य, गुरुजन, लड़के, दादा, मामा, श्वसुर, नाती, साले और सम्बन्धी मुझे मारने के लिये खड़े हैं, फिर भी मैं इन्हें मारने की इच्छा नहीं करता।

तथा—

न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।

स्वजनों को युद्ध में मारकर कल्याण नहीं दीख पड़ता। श्री कृष्ण का उपदेश समाप्त होने पर अर्जुन फिर कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्ममाच्युत!

हे अच्युत तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट होगया और मुझे कर्तव्य धर्म की स्मृति होगई।

जैनियों का मार्ग तो कहता है—

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुःस्यात्-यः कण्टको वा निज मण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति-न दीनकानीनकदाशयेषु ॥

—यशस्तिलक चम्पू

"जो शत्रु अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर रण में सम्मुख आवे अथवा जो स्वदेश का कण्टक हो उसी पर राजा लोग अस्त्रप्रहार करते हैं—कमज़ोर निहत्थे कायरों पर नहीं।

हम पहिले लिख आये हैं कि गृहस्थ के लिये विरोधी हिंसा का त्याग नहीं बतलाया गया है। वह अपनी तथा अपने सम्बन्धियों की रक्षा के लिये तलवार उठाता है—शत्रु का दमन करता है और उसमें हजारों मनुष्यों का वध भी होता है जिस का पाप राजा को अवश्य लगता है, किन्तु उस समय कायरतासे डरकर अपना दोष छिपाने के लिये सन्यास मार्ग का अवलम्बन करने में उससे भी बड़ा पाप है, क्योंकि धर्म और उसके आयतनों की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्तव्य है। जो क्षत्रिय कायरता वश उससे विमुख होता है वह धर्म और धर्मायतनों के नष्ट करने में शत्रु की मदद करता है। सन्यासमार्ग भी वीरों के ही लिये है, कायरों के लिये नहीं। जो बाह्य शत्रु को विजय नहीं कर सकता, वह अन्तरङ्ग शत्रु काम क्रोधादिक को कैसे जीत सकता है?

यदि कोई जैन अहिंसाणुव्रती न्यायासन पर बैठकर आततायी को दण्ड देता है—नरघातक को नियमानुसार फांसी की सजा देता है—तो उसके अणुव्रत में कोई बाधा नहीं आती।

आशाधर जी ने इसी विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। लिखा है—

दण्डोहि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः ॥

इति वचनादपराधकारिषु यथाविध दण्डप्रणेतृणामपि चक्रवार्यादीनामणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु च बहुशः श्रूयमाणं न विरुध्यते। आत्मीयपदवी शक्त्यनुसारेण तैः स्थूल हिंसादिविरते प्रतिज्ञानात् ॥ —सागारधर्मामृत टीका

"शत्रु हो, या अपना पुत्र हो, दोनों को अपराध के अनुसार समान रूप से दिया हुआ दण्ड राजा की इस लोक तथा परलोक में रक्षा करता है" ऐसा राजनीति विशारदों का कथन है। इसके अनुसार अपराधियों को यथायोग्य दण्ड देने वाले चक्रवर्ती आदि शासकों का अणुव्रत धारण करना जो पुराणों में सुना जाता है उससे उनके अणुव्रत में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि वे अपनी पदवी और शक्ति के अनुसार स्थूल हिंसादिक के त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं।

इस उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पेशे और शक्ति के अनुसार हिंसा के त्याग में भाग ले सकता है। ऐसी दशा में अहिंसा पर कायरता तथा अव्यवहार्य का लाँछन लगाना केवल अज्ञानता है। अहिंसाव्रत को लेकर हमारे सांसारिक जीवन में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। प्रत्युत उस के धारण करने से मनुष्य का जीवन स्वावलम्बी निरालसी और कर्तव्यपालक बन जाता है। उस के हृदय में सर्वदा शान्तिरस की निर्मलधारा बहा करती है जो आध्यात्मिक तथा बाह्यशान्ति को फैला कर संसार के प्राणियों में पारस्परिक सद्भाव और प्रमोद को उत्पन्न करती है जिस में मग्न होकर हम चिल्ला उठते हैं—

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव॥

अहिंसा धर्म की जय!